ISSN: 2456-947X, Vol. I, Issue. II, Sept-2017

अनघ

(An International Journal of Hindi Language, Literature and Culture)

सामाजिक पुनरुत्पादन और स्त्री की गुलामी

डॉ. प्रमोद कुमार तिवारी
गुजरात केन्द्रीय विश्वविद्यालय,गांधीनगर
मेल- pramodktiwari@gmail.com

शोध-सार - उत्पादन और पुनरुत्पादन की प्रक्रिया किसी भी समाज की दशा और दिशा तय करती है। इसी प्रक्रिया से समाज की संरचना और विभिन्न प्रकार के सत्ता संबंध निर्मित होते हैं। इस आलेख में हम स्त्री के संदर्भ में उत्पादन, पुनरुत्पादन एवं उत्पादन का निर्धारण करनेवाले सत्ता संबंध को समझने की कोशिश करेंगे। पुनरुत्पादन क्या है? उत्पादन, श्रम, श्रम में लगनेवाला समय और श्रमिक का परिवेश किस प्रकार खास सामाजिक संरचना के निर्माण में और उसके स्थायित्व में भूमिका निभाते हैं? उत्पादन और स्त्री का रिश्ता क्या है? इंसानों का भी पुनरुत्पादन होता है परंतु क्या किसी इंसान के उत्पादन (निर्माण की प्रक्रिया) को किसी वस्तु के उत्पादन की तरह कुछ भौतिक कसौटियों पर कसा जा सकता है? पुनरुत्पादन के सवाल सबसे अधिक स्त्री के सवाल क्यों बन जाते हैं? इस आलेख में इन सवालों से जूझने का प्रयत्न किया गया है।

मूल शब्द - स्त्री, उत्पादन, पुनरुत्पादन, श्रम, सत्ता-संबंध, गुलामी

I. प्रस्तावना

प्रत्येक समाज की अपनी एक खास संरचना होती है जो समाज के विभिन्न घटकों के बीच के सत्ता संबंध से संचालित होती है। यह सत्ता संबंध केवल समाज की विभिन्न संस्थाओं, संगठनों या समूहों तक ही सीमित नहीं रहता बल्कि परिवार या दो व्यक्तियों के संबंध के रूप में भी मौजूद रहता है। मार्क्सवादी चिंतकों ने इतिहास में परिवर्तन के लिए प्रेरक शक्तियों को उस युग की आर्थिक स्थितियों से जोड़कर देखा। इन चिंतकों ने सामाजिक संरचना और उसके स्तरीकरण (उंच-नीच का भेद) के निर्धारण में किसी दैवी सत्ता या ईश्वर की भूमिका को नकारते हुए उसके लिए भौतिक स्थितियों को जिम्मेदार माना। इनके अनुसार उत्पादन की व्यवस्था और उस पर अधिकार न केवल ऐतिहासिक स्थितियों का, बल्कि हमारे विचारों का भी निर्धारण करते हैं। एंजिल्स ने लिखा कि, 'अंततः इतिहास के रूप को निश्चित करनेवाले तत्व वास्तविक जीवन में उत्पादन और पुनरुत्पादन हैं। सामाजिक परिवर्तन के कारणों को दर्शन में नहीं युग विशेष के अर्थशास्त्र में ढूंढना होगा। दुनिया के आरंभ में शब्द नहीं थे कार्य थे और उनके कारण थे।' कहा जा सकता है कि इस कार्य, कारण और उससे उत्पन्न सामाजिक संबंधों के द्वारा सत्ता संरचना का निर्माण होता है। इस सत्ता का गहरा रिश्ता उत्पादन संबंध से होता है। विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन, सामाजिक स्थितियों एवं संबंधों के उत्पादन या निर्माण एवं उनके लाभ या उपभोग के रिश्ते को हम उत्पादन संबंध कह सकते हैं जो सत्ता पर अधिकार का निर्धारण करते हैं। उत्पादन संबंध को सरल शब्दों में इस रूप में समझा जा सकता है कि एक व्यक्ति उत्पादन के लिए अपना श्रम और समय खर्च करता है और फिर वह या कोई और उस उत्पादित सामग्री का उपभोग करता है या उसका लाभ उठाता है। इस उत्पादन और उपभोग के बीच का संबंध ही उत्पादन संबंध है। किसी भी समाज में उत्पादन कार्य में लगनेवाले श्रम के बराबर अगर श्रमिक को मूल्य या लाभ मिल जाए तो यह आदर्श स्थिति है परंतु व्यवहार में अक्सर ऐसा होता नहीं है और वहां उत्पादक कोई और होता है और उपभोक्ता कोई और। इसी परिस्थिति में सत्ता संरचना अपनी भूमिका निभाती है। सामान्यतः जो सत्ता में होते हैं वे उत्पादन हेतु श्रम एवं समय कम खर्च करते हैं और उसके अनुपात में उपभोग अधिक करते हैं। स्वाभाविक है कि उनके पास काम करने की उर्जा और समय दोनों की मात्रा बची रहती है जिसके कारण वे न केवल लाभ की स्थिति में होते हैं बल्कि इस समय का उपयोग कर वे अपनी स्थिति को और मजबूत करते जाते हैं और ऐसी संरचना का निर्माण करते हैं जो उन्हें लंबे समय तक उत्पादक की बजाय उपभोक्ता बनाए रखने में मदद करे। कुछ समय बाद यह उत्पादन संबंध, संपत्ति संबंध में परिवर्तित हो जाता है और एक वर्ग का संपत्ति पर

नियंत्रण बढ़ता जाता है। यह भी स्वाभाविक है कि जो लाभ की स्थिति में होता है वह संरचना को ज्यों का त्यों बनाए रखना चाहता है, दूसरी ओर जो पीड़ित होता है वह इसे बदलना चाहता है। पिछली कई सदियों का इतिहास यह बताता है कि समाज की मूलभूत संरचना और श्रम आधारित सत्ता संबंध लगभग ज्यों का त्यों बरकरार है, मसलन स्त्री एवं दलित वर्ग एक लंबे समय से जिस अनुपात में उत्पादन कर रहा है, उस अनुपात में उसे उसका लाभ नहीं मिल पा रहा है। दूसरे शब्दों में आर्थिक, वैज्ञानिक एवं तकनीकी स्तर पर अपूर्व प्रगति के बावजूद अगर कुछ स्थितियों में न्यूनतम परिवर्तन आ रहा है तो इसका अर्थ यह है कि समाज की सत्ता संरचना का लगातार पुनरुत्पादन हो रहा है। मार्क्स और एंजेल्स ने उत्पादन और संपत्ति की शक्तियों के आधार पर समाज के निर्माण की प्रक्रिया की बात की थी। मार्क्सवादी स्त्री विमर्शकारों ने उत्पादन तथा पुनरुत्पादन से स्त्री के संबंध को समझने पर बल दिया है। इस दृष्टि से सामाजिक पुनरुत्पादन को समझना प्रासंगिक होगा।

II. सामाजिक पुनरुत्पादन

सामाजिक पुनरुत्पादन के अंतर्गत जैविक उत्पादन एवं सामाजिक स्थितियों का उत्पादन दोनों शामिल होता है, सामाजिक पुनरुत्पादन वह प्रक्रिया है जिसके कारण समाज की खास संरचना एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में यात्रा करती है और काफी हद तक ज्यों की त्यों बरकरार रहती है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो समाज की सत्ता संरचना का यथावत बने रहना यानी सामाजिक असमानता का बने रहना, शोषक का हमेशा शोषक एवं शोषित का हमेशा शोषित बने रहना यूं ही नहीं होता, बल्कि इन प्रक्रियाओं का पुनरूत्पादन होता है और इस प्रक्रिया को सामाजिक पुनरुत्पादन कह सकते हैं।

सामाजिक पुररुत्पादन की मुख्य विशेषताओं को निम्नलिखित रूप में रेखांकित किया जा सकता है-

- विभिन्न जातियों (मनुष्य) का जैविक उत्पादन
- विभिन्न स्थितियों एवं सामाजिक संरचना का बरकरार रहना तथा मातृत्व की (जैविक की बजाय) सामाजिक स्थितियों का निर्माण
- श्रम शक्ति पर नियंत्रण
- पारिवारिक एवं स्कूली शिक्षा के माध्यम से खास मन:स्थिति को बरकरार रखना
- प्रजनन एवं संतानोत्पति के साथ-साथ रिश्ते-नाते एवं सामाजिक संबंधों का निर्धारण एवं इसमें राज्य की भूमिका
- सामंती एवं पूंजीवादी शक्तियों द्वारा श्रम का एकतरफा उपयोग

यहां हम स्त्री के संदर्भ में उत्पादन एवं सत्ता संबंध को समझने की कोशिश कर रहे हैं। स्त्रियों की वर्तमान स्थिति का सबसे बड़ा कारण उनके उत्पादक श्रम के महत्व को नकारना और उसके मूल्य को कम से कम आंकना रहा है। यह कहा जा सकता है कि लगभग पूरी दुनिया की प्राचीन सामाजिक व्यवस्था ने स्त्रियों के श्रम का लाभ पुरुषों को देना सुनिश्चित किया और इसके लिए एक जटिल व्यवस्था का निर्माण किया जिसे हम पितृसत्तात्मक व्यवस्था कह सकते हैं। स्त्रियों के उत्पादन का अधिकतम लाभ पुरुषों को मिले इसके लिए पितृसत्ता ने अनेक निर्मम तरीके अपनाए और पक्षपातपूर्ण व्यवस्था निर्मित की, जिसमें उत्पादन प्रक्रिया, मूल्य व्यवस्था, शिक्षा, भाषा सबकुछ स्त्री विरोधी और उसी अनुपात में पुरुष समर्थक थी। सामाजिक पुनरुत्पादन का गहरा रिश्ता सामाजिक असमानता से जुड़ता है। वर्ग एवं जाति के स्तर पर भी समाज में भेद है परंतु वर्ग या जाति की तुलना में समाज में स्त्री की स्थिति अधिक जटिल है। और इस सबके लिए सबसे अधिक स्त्री की प्रजनन शक्ति का उपयोग किया गया।

III. प्रजनन एवं स्त्री

स्त्री को प्राकृतिक रूप से जीवन को आगे बढ़ाने यानी संतान उत्पन्न करने की क्षमता मिली हुई है। निश्चित रूप से संतानोत्पति भी एक तरह का उत्पादन ही है परंतु किसी फैक्ट्री में सामान के उत्पादन से इसकी स्थितियां बहुत अलग होती हैं और इन दोनों की तुलना नहीं की जा सकती। बच्चे को जन्म देना एक महत्वपूर्ण कार्य है जो जीवन की निरंतरता को बनाए रखता है। इस कार्य में स्त्री कठोर श्रम करती है और असहनीय पीड़ा सहती है। यह श्रम अन्य किसी भी प्रकार के श्रम से अलग है क्योंकि यह केवल शारीरिक ही नहीं मानसिक एवं भावानात्मक भी होता है। स्त्री संतानोत्पत्ति के रूप में न केवल जीवन का पुनरुत्पादन करती है बल्कि अक्षम बच्चे की देखभाल कर, उसकी परवरिश कर उसे स्वावलंबी एवं सक्षम इंसान भी बनाती है जिस पर भविष्य की उत्पादन प्रक्रिया और उसकी गुणवत्ता निर्भर करती है। इस पूरी प्रक्रिया में स्त्री न केवल अपने श्रम का बल्कि अपने सपनों, आकांक्षाओं और व्यक्तिगत सुखों का भी बलिदान कर देती है। विडंबना यह है कि इस जीवन-उत्पादन के लिए समाज में जो कृतज्ञता और सहयोग का भाव होना चाहिए था वह स्त्री को नहीं मिला, उल्टे इसी कारण स्त्री को तमाम तरह के बंधनों में बांध दिया गया। स्त्री के इस कठोर श्रम और समय के बड़े निवेश को लगभग अनुत्पादक मान लिया गया। जिस समय का उपयोग वह अपने व्यक्तित्व के निर्माण एवं अन्य स्थितियों के उत्पादन या उन पर नियंत्रण हेतु कर सकती थी, उसे स्त्री ने नये नागरिक को तैयार करने में लगा दिया परंतु इस पूरी प्रक्रिया से उत्पन्न लाभ पर उसकी बजाय किसी और का नियंत्रण सुनिश्चित कर दिया गया। स्त्री नया नागरिक तैयार करती है, केवल उसके शरीर पर ही नहीं बल्कि उसकी आत्मा पर स्त्री का शासन होता है परंतु चूंकि वह खुद शासित होती है इसलिए परंपरागत गुलामी को जाने अनजाने वह अपनी संतान में पिरोती चली जाती है। विवाह व्यवस्था, पितृसत्ता और पुरुष के महत्व को माता द्वारा बाल मन में बिठाना भी सामाजिक पुररुत्पादन है। जिसके मूल में सत्ता संरचना काम करती है। स्त्रीवादियों का मानना है कि प्रसव या बच्चे का जन्म केवल जैविक क्रिया नहीं है बल्कि यह एक सामाजिक क्रिया भी है। इसमें परिवार एवं समाज बड़ी भूमिका निभाते हैं। विवाह की उम्र, बच्चों की संख्या, घर में रिश्तेदारों या दूर के संबंधियों का निवास, घर के भीतर और बाहर के कामों का वितरण, परिवार की संरचना और आकार का निर्धारण, परिवार के कामों का वितरण जैसे तमाम कामों का निर्णय कौन करता है? क्या ये कहा जा सकता है कि इस तरह के निर्णय केवल व्यक्ति के होते हैं और इसमें परिवार एवं समाज की सामूहिक मानसिकता की भूमिका नहीं होती है? स्पष्ट है कि ऐसे निर्णयों में स्त्री-पुरुष की समानता का और उनके स्वतंत्र व्यक्तित्व के विकास हेतु जरूरी सुविधाओं का ध्यान नहीं रखा जाता है। यह संरचना सदियों से चलती आ रही है। गलत तरीके से मातृत्व को महिमामंडित कर पितृसत्ता ने एक तरह की मानसिक गुलामी से स्त्री को जकड़ दिया। गर्भ धारण और नौ महीनों तक उसके वहन के प्राकृतिक कार्य के अतिरिक्त उन कामों को भी स्त्री या मां के जिम्मे कर दिया गया जिन्हें पुरुष भी कर सकता था। जैसे-

बच्चे के पालन-पोषण, घर को साफ रखने, भोजन बनाने, बुजुर्गों की देखभाल करने जैसे कामों का कोई प्राकृतिक आधार नहीं है परंतु इन्हें भी स्त्री के जिम्मे डाल दिया गया और यह सब करनेवाली स्त्री को 'घरेलू स्त्री' विशेषण देकर उनके श्रम को निरर्थक सिद्ध कर दिया गया। इस प्रकार जैविक लिंग भेद का सामाजीकरण कर उसे सामाजिक अस्मिता का निर्धारक बना दिया गया। कुछ कामों को स्त्री कार्य के रूप में और कुछ को पुरुष कार्य के रूप में मान्यता दी गई। मसलन, संताली समाज में घर का छप्पर छाने और हल जोतने का कार्य सिर्फ पुरुषों के लिए आरक्षित है। इस प्रक्रिया में स्त्री अपने स्वतंत्र वजूद को खोकर एक खास सामाजिक संरचना को बनाए रखने वाली माध्यम बन कर रह गयी। और यह प्रक्रिया केवल निश्चित क्षेत्र या समाज तक ही सीमित नहीं रही, इसे संस्थागत रूप दिया गया और परिवार, विद्यालय, विचार, संस्कृति, श्रम बाजार एवं कार्यस्थल आदि उन सभी महत्वपूर्ण स्थानों पर इसे मान्यता दी गयी जो हमारी मानसिकता का निर्माण करते हैं और हमारे दैनिक जरूरतों से जुड़े होते हैं। एक तरह से कहा जा सकता है कि विद्यालय, परिवार, राजनीति आदि जेंडर भेद को बनाए रखने या समाज की यथास्थिति को बनाए रखने के माध्यम रहे हैं तो गलत नहीं होगा।

IV. पुनरुत्पादन और स्त्री

मार्क्सवादी चिंतक सामाजिक पुनरुत्पादन का संबंध उत्पादन के तरीकों और वर्ग विषमता की संरचना को बरकरार रखने की प्रक्रिया से जोड़ते हैं और स्त्रियों की स्थिति का विश्लेषण श्रम एवं उत्पादकता के संदर्भ में करते हैं। इस विचारधारा के अनुसार इतिहास में परिवर्तन की प्रेरक शक्तियां उस युग की आर्थिक उत्पादन की व्यवस्था और उसके विविध संबंधों में निहित होती है। इसी व्यवस्था से मानव के विचार भी जन्म लेते हैं। इस विचारधारा ने भौतिकता और वैज्ञानिकता को महत्व देते हुए इस बात से इनकार किया कि कोई देवता इतिहास का और हमारे भाग्य का निर्धारण करता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि स्त्री की स्थिति भी उत्पादन एवं अन्य आर्थिक स्थितियों से निर्धारित होती है। हम जानते हैं कि किसी भी व्यक्ति के व्यक्तित्व निर्माण में परिवेश की बहुत बड़ी भूमिका होती है। स्त्रियां एक सीमित परिवेश में रहती हैं, बच्चे से संबंधित कार्यों एवं भोजन, सफाई आदि घरेलू कामों के कारण इन्हें घरों से बाहर निकलने का या बाहरी दुनिया से संपर्क का कम मौका मिल पाता है। इसके अलावा इन पर पारंपरिक रिवाजों को निभाने का बोझ भी अधिक होता है। विवाह, व्रत, त्योहार, पूजा आदि का भार भी स्त्रियों पर ही अधिक होता है। इसी कारण एक ओर ये अपने व्यक्तित्व का विकास नहीं कर पाती हैं या कहें कि अपने स्व की कुर्बानी दे देती हैं वहीं दूसरी ओर यथास्थिति को बनाये रखने में अनजाने में ही सही सहयोग करती जाती हैं जो अंततः असमानता और शोषण को बनाए रखने में मदद करता है। कई विद्वान बच्चे के जन्म एवं देखभाल, घरेलू कामों जैसे स्त्रियों के अवैतनिक कामों के लिए वेतन देने की मांग करते हैं परंतु यह वेतन भी पर्याप्त कैसे हो सकता है, सवाल केवल वेतन या सुविधा का नहीं व्यक्तित्व का भी है। घर के दायरे में बंद स्त्री उन तमाम संभावनाओं से वंचित रह जाती है जो उसे बाहर निकलने और विविध प्रकार के कार्यों से जुड़ने पर प्राप्त होती।

औद्योगिकृत समाज में स्थितियां अधिक जटिल हुई हैं। कृषक समाज में स्त्री-पुरुष के ज्यादातर काम एक जैसे होते थे और दोनों अधिकतर समय एक साथ रहते थे सो उनमें एक हद तक बड़े-छोटे का भाव कम था। खेतों में काम, खेत के उत्पादों (अनाज, सब्जी आदि) का घरों में संसाधन, बच्चे और बुजुर्गों के साथ समय गुजारना आदि कार्यों में दोनों का सहयोग होता था, निश्चित रूप से तब भी स्त्री पुरुष में भेद था, दोनों की मजदूरी में और सम्मान के स्तर में फर्क होता था परंतु औद्योगिक समाज की तरह दोनों के बीच दूरी नहीं थी, औद्योगिकृत समाज में श्रमिकों के घर से बाहर निकलने के कारण स्त्री-पुरुष अलग हो गए और उनके कामों का बंटवारा अलग तरह का स्तर भेद लेकर आया। श्रम के इस भेद को कुछ संस्थाओं ने मान्यता देकर इसे स्थायित्व दिया। सामाजिक संस्थाओं द्वारा लिंग के आधार पर श्रम का विभाजन एक खास तरह के वर्गीकृत समाज का निर्माण करता है। डॉ. अमर्त्य सेन ने अपने शोधों में इस बात को रेखांकित किया है कि जिन परिवारों में जीवन-निर्वाह ही सबसे बड़ी चुनौती हो, वहाँ स्त्री-पुरुष सहयोग जीवन की एक अनिवार्यता बन जाता है। यानी आर्थिक समृद्धि कई बार सामाजिक भेद के रूप में भी आती है, क्योंकि तब श्रम विभाजन और उसका स्तरीकरण अधिक होता है। पूंजीवादी दौर में स्त्री का कमोडिटी बन जाना इसी श्रम विभाजन का परिणाम है जिसमें पारंपरिक सामंती समाज की मान्यताओं ने भी भरपूर सहयोग दिया है इस मोर्चे पर सामंती समाज और पूंजीवादी समाज एक दूसरे के विरोधी नहीं बल्कि समर्थक के रूप में सामने आते हैं। पूंजीवादी संरचना व्यक्ति स्वातंत्र्य की बात करती है परंतु वह पितृसत्ता की मान्यताओं को बढ़ावा देती है। मसलन पितृसत्ता व्यक्ति स्वातंत्र्य और 'निजी ही राजनीतिक है'(पर्सनल इज पॉलिटिकल) को हमेशा नकारती रही है और व्यक्तित्व की बजाय कुछ सामूहिक विशेषताओं (मातृत्व, परिवार, घर, सुशीलता, सहनशीलता आदि) को बढ़ावा देती रही है। अमेरिका की मशहूर लेखिका और आंदोलनकर्मी कैरोल हैनिश ने 1969 के अपने 'पर्सनल इज पॉलिटिकल' शीर्षक के लेख में मजबूती के साथ इस मुद्दे को उठाते हुए कहा था कि स्त्रियों की समस्याएं व्यक्तिगत नहीं राजनीतिक हैं और स्त्रियों को श्रमिक संगठनों या ब्लैक लोगों की तरह संगठित हो कर अपने राजनीतिक हक की बात करनी चाहिए। इस संदर्भ में देखें तो किसी भी समाज में वैचारिक बदलाव सबसे महत्वपूर्ण हो जाता है। आर्थिक उन्नति, शिक्षा या तकनीक समृद्धि से स्थितियां बहुत ज्यादा नहीं बदलतीं। शिक्षित एवं समृद्ध समुदायों में लिंग भेद, पर्दा प्रथा आदि की बढ़ोतरी या स्त्री को आधुनिकता के आवरण में कमोडिटी बनने की प्रवृति का विश्लेषण बहुत जरूरी है। हरियाणा, पंजाब जैसे समृद्ध राज्यों में स्त्रियों की बढ़ती समस्या और घटता लिंग अनुपात इस बात का प्रमाण है। जनमाध्यमों खास तौर से दूरदर्शन में पारंपरिक रीति-रिवाजों का पुनरुत्पादन, करवा चौथ, नाग पूजा से लेकर राशिफल एवं ग्रह दशा के कार्यक्रमों की बढ़ती संख्या इन स्थितियों पर सोचने को विवश करती है। प्रो. अमर्त्य सेन ने आर्थिक स्थितियों से जोड़ते हुए स्त्री समस्याओं को बहुत अच्छे तरीके से उठाया है।

इस संबंध में महत्वपूर्ण बात यह है कि असमानता और लिंग भेद न केवल संस्थागत है बल्कि राज्य तथा अन्य सत्ता संस्थानों द्वारा वैधीकृत भी है। समाज में विभिन्न संस्थाओं की लगभग स्थायी, व्यवस्थित एवं बहुस्तरीय प्रणालियां हैं जो लिंग भेद एवं इस असमानता का नये-नये तरीकों से पुनरुत्पादन करती रहती हैं। इस पुनरुत्पादन को रोकने के लिए बड़े स्तर पर ऐसे वैचारिक बदलाव की आवश्यकता है जो इन संस्थाओं की आधारभूत संरचना में बदलाव लाए। निश्चित रूप से यह बदलाव आर्थिक परिवर्तन के साथ-साथ समाज की सोच में गहराई से

बैठी मान्यताओं खास तौर से पितृसत्ता में परिवर्तन के बाद ही आ पाएगा।

स्त्री के संदर्भ में पितृसत्ता की सबसे बड़ी सफलता सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्रों के बीच दूरी का निर्माण करना और उस पर अपने ढंग से नियंत्रण करना रहा है, इसी ने स्त्रियों को घर की मर्यादा और उससे जुड़ी पारिवारिकता के बंधन में कैद कर उसकी असीम संभावनाओं को समाप्त कर दिया। इसके लिए पितृसत्ता ने अत्यंत सुनियोजित ढंग से विवाह व्यवस्था का उपयोग किया। सामाजिक पुनरुत्पादन में विवाह व्यवस्था की बड़ी भूमिका रही है। इसी के माध्यम से पुरूषकेन्द्रित समाज, स्त्री के शरीर पर नियंत्रण करता है और उसके श्रम का लैंगिक विभाजन आसानी से कर पाता है। विवाहित स्त्री से यह अपेक्षा की जाती है कि वह घर-गृहस्थी से संबंधित सारे कामकाज संभाले और उसी तक सीमित रहे। 'बिनु घरनी घर भूत के डेरा' जैसी लोकोक्तियां उन्हें घर की गुलाम बना कर उसे महिमामंडित करती हैं और विवाह के द्वारा उनकी उत्पादकता, उनके श्रम के साथ साथ उनके शरीर और मस्तिष्क तक पर पितृसत्तात्मक नियंत्रण कर लिया जाता है। और स्त्रियों को इसका अहसास भी नहीं होता।

यह विचारणीय है कि वे कौन से कारण रहे होंगे जिनके कारण रूप कुंवर की मृत्यु के पश्चात राजपूत समुदाय की स्त्रियों ने सती प्रथा के समर्थन में आंदोलन चलाया और इस बात की मांग की कि हमें सती होने का कानूनी अधिकार मिलना चाहिए क्योंकि यह हमारी परंपरा और पहचान है। यहां निजी और सामाजिक का द्वंद्व अपने नंगे रूप में सामने आता है।

V. निजी बनाम सार्वजनिक

स्त्री के व्यक्तिगत अधिकारों को सामाजिकता के नाम पर नियंत्रित करने की प्रक्रिया बहुत पहले शुरू हो गई थी, इसमें एक ओर तो व्यक्तिगत समस्याओं को सामाजिक कहकर उन पर अलग तरह से नियंत्रण किया जाता है वहीं दूसरी ओर जो मुद्दे सामाजिक हैं उन्हें व्यक्तिगत समस्या कह कर उनसे मुंह मोड़ लिया जाता है। उदाहरण के लिए विधवा होने के बाद पुनर्विवाह न करना, स्त्री को ढंग से खाने-पहनने का अधिकार न देना और ऐसी अन्य स्थितियां वास्तव में समाज द्वारा नियंत्रित होती हैं परंतु इसका सारा दोष स्त्री के पूर्व जन्म के व्यक्तिगत पापों पर मढ़कर समाज ने इसे स्त्री की व्यक्तिगत समस्या बताते हुए उसे कोई हक नहीं दिया जाता है। परंतु जैसे ही स्त्री घर से बाहर निकलना चाहती है या किसी से प्रेम करना चाहती है तो तत्काल सम्मान और मर्यादा आदि के नाम पर इसे नियंत्रित किय जाता है और इसे सामाजिक गतिविधि करारा दिया जाता है। इसी का एक पक्ष यह है कि पितृसत्ता चाहती है कि स्त्रियाँ निजी एवं घरेलू कामों में ही व्यस्त रहे और फिर उन निजी कामों को व्यक्तिगत मान कर उन्हें किसी भी प्रकार के सामाजिक या राजनैतिक हस्तक्षेप से दूर कर दिया जाता है। समाज में अराजनीतिक कुछ भी नहीं होता परंतु परंपरा और संस्कृति के नाम पर सत्ता में बैठे लोग यथास्थिति बनाए रखने के लिए घनघोर राजनीतिक मुद्दों को किनारे किए रहते हैं। जाति के संदर्भ में डॉ. भीमराव अंबेडकर ने इस बात को समझा था और बल पूर्वक उठाया था परंतु स्त्री के संदर्भ में कैरोल हैनिश जैसों के आंदोलन के बावजूद लगभग पूरी दुनिया में ये मुद्दे सही ढंग से राजनीतिक नहीं बन पाए हैं।

स्त्री की स्थिति में आर्थिक समृद्धि और आधुनिकीकरण से भी बहुत अंतर नहीं आया है।

डॉ. अमर्त्य सेन ने दिखाया है कि पंजाब और हरियाणा में आर्थिक प्रगति एवं आधुनिकीकरण के बावजूद बालिकाओं की भ्रूण-हत्या में बढ़ोतरी हुई है। अक्सर ऐसा होता है कि समृद्धि व सामाजिक रुतबा बढ़ने पर महिलाओं की जीवन-शैली पर अधिक प्रतिबंध लगाए जाते हैं। डॉ. सेन ने पाया कि उच्च लिंगानुपात वाले जनपदों में गरीबी का स्तर भी प्रायः उच्च है। अर्थात्, उच्च गरीबी स्तर और उच्च नारी-संख्या में सकारात्मक सहसंबंध है। इस प्रकार डॉ. अमर्त्य सेन ने निष्कर्ष निकाला कि स्त्री-पुरुष विषमता के निवारण और समता के उच्च लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आर्थिक संवृद्धि या आधुनिकीकरण नाकाफी है, बल्कि इसके लिए सामाजिक परिवर्तन की किसी ऐसी सक्रिय प्रक्रिया की आवश्यकता होती है, जिसका आर्थिक संवृद्धि से कोई स्पष्ट संपर्क नहीं होता।

VI. स्वतंत्र व्यक्तित्व और स्त्री

सबसे बड़ी समस्या स्त्रियों को स्वतंत्र व्यक्तित्व देने की है जो वर्तमान सामाजिक संरचना में बहुत दूर की चीज नजर आती है। समाज, स्त्रियों को लगातार ऐसे कामों में ढकेलता रहा है जो उनके व्यक्तित्व को समाप्त कर उन्हें एक वस्तु या मनोरंजन के प्रतीक के रूप में सीमित कर देता है। इस प्रक्रिया में उनकी प्रजनन क्षमता या जैविक लिंग भेद का एकतरफा इस्तेमाल किया जाता है और कई बार स्त्री को सिर्फ शरीर या 'योनी' मान लिया जाता है। उदाहरण के रूप में हम शरीर के माध्यम से आजीविका चलाने हेतु मजबूर स्त्रियों का उदाहरण ले सकते हैं। वह चाहे देवदासी की परंपरा हो, बेड़नी की परंपरा हो या फिर भिन्न-भिन्न नामों से वेश्या बनाने की कवायद रही हो। इन कामों में अपनी पहचान और व्यक्तित्व को छुपाने की हर संभव कोशिश की जाती है। सबसे चिंता की बात सेक्स वर्कर के कामों में स्त्रियों की बढ़ती संख्या है, समाज का एक हिस्सा इनके खिलाफ खड़ा होने की बजाय छुपे रूप में ही सही पर इसे प्रोत्साहित करता है। इनका लगातार सामाजिक पुनरुत्पादन हो रहा है। बीबीसी की रिपोर्ट के अनुसार भारत में 1997 में करीब 20 लाख वेश्याएं थीं जिनकी संख्या 2004 में 30 लाख तक पहुंच चुकी थी, इनमें से 35 प्रतिशत से अधिक लड़कियां 18 वर्ष की उम्र से पहले ही इस कार्य में लग गई थीं/लगा दी गई थीं। प्रच्छन्न वेश्याओं की संख्या इससे कहीं अधिक है हालांकि स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय के आंकड़े 6,88,751 रजिस्टर्ड वेश्याओं को ही मान्यता देते हैं। इस पेशे में आनेवाली स्त्रियों की संख्या का लगातार बढ़ना, अत्यंत शर्मनाक होने के बावजूद बेड़नी जाति की महिलाओं का घरेलू खर्च के लिए मजबूरीवश शरीर बेचना सामाजिक संवेदनहीनता को स्पष्ट करता है। बेड़नी स्त्रियां परंपरागत पेशे से मुक्त होना चाहती हैं परंतु गरीबी और बेकारी और समाज का संकुचित नजरिया उन्हें बार-बार इसके लिए विवश करती है।

असल में इस तरह की तमाम परंपराएं एक तरह का मनोवैज्ञानिक कंडिशनिंग करती हैं, जिसमें स्त्रियाँ चुपचाप शोषित होने के लिए तैयार हो जाती हैं। इसलिए उन सारी स्थितियों में बदलाव लाने की कोशिश करनी होगी जो स्त्रियों को मानसिक गुलामी की ओर ले जाती हैं। इनमें सबसे जरूरी है शिक्षा में बदलाव वह चाहे परिवार में दी जानेवाल शिक्षा हो या विद्यालयों में। इसके साथ ही स्त्रियों की निजता को व्यक्तिगत नहीं मानते हुए उसे एक व्यापक राजनैतिक विषय समझने की जरूरत है। 'व्यक्तिगत राजनैतिक है' एक ऐसा नारा है, जो स्त्रियों को अपने अधिकारों के लिए बोलने के लिए प्रोत्साहित करता है और सिर्फ़ बोलने के लिए ही नहीं, उन्हें हासिल करने हेतु लड़ने के लिए भी तैयार करता है। इसके लिए जरूरी है कि समाज का विचार बदले। लोगों का

विचार पहले बदलता है, आचार के बदलने में समय लगता है, यही कारण है कि वैचारिक रूप से लोग कई बातों को स्वीकार करते हुए भी व्यवहार में उसके विपरीत कार्य करते हैं। उदाहरण के लिए लड़का-लड़की को समान मानने के बावजूद लड़की की शिक्षा, मनोरंजन एवं खेल-कूद में भेद करते हैं। जेंडर के आधार पर यह भेद भाषा के प्रयोग, खान-पान, वस्त्र, जीवन जीने के ढंग आदि कई रूपों में नजर आता है क्योंकि शिक्षा के माध्यम से इनका लगातार पुनरुत्पादन हो रहा है। कोई भी विचारधारा हवा में नहीं पैदा होतीं, वे उत्पादन के साधनों और जीवन के संघर्षों से विकसित होती हैं। विवाह एवं परिवार की विचारधारा एक समय की परिस्थिति ने उत्पन्न किया था, यह किसी खास व्यक्ति के मस्तिष्क की कोरी उपज नहीं थे। अर्थात विचारों के साथ-साथ उत्पादन प्रक्रिया एवं श्रम के स्तरीकरण में स्त्री को पर्याप्त प्रतिनिधित्व देने की जरूरत है।

सारांश

दुनिया के ज्यादातर समाजों में जो व्यवस्था है उसमें उत्पादन की प्रक्रिया में अपना श्रम और समय खर्च करनेवाले लोगों को उससे मिलने वाले लाभ पर अधिकार नहीं दिया जाता परिणामस्वरूप समाज में एक तरह की असमानता या खाई पैदा हो जाती है। इस प्रक्रिया का सबसे ज्यादा मूल्य स्त्रियों ने चुकाया है। ये समझने की जरूरत है कि स्त्री मुक्ति सिर्फ स्त्रियों के लिए ही नहीं पुरुषों के लिए और पूरे समाज के लिए जरूरी है। इसके लिए समाज में ऐसे बदलाव की जरूरत है जिससे पारंपरिक संरचनाएं टूटें और स्त्री श्रम का सम्मान हो। उत्पादन प्रक्रिया में उन्हें बराबर की हिस्सेदारी मिले और उनका स्वतंत्र व्यक्तित्व विकसित हो। स्त्री-पुरूष उत्पादन संबंध के मूल स्वरूप में सदियों से किसी प्रकार का बदलाव नहीं होने के कारण ही स्त्री-मुक्ति की पुरानी चाहत अभी तक सफल नहीं हुई है।

संदर्भ ग्रंथ

1. मिल, जान स्टूअर्ट. *स्त्री और पराधीनता*, अनु. युगांक धीर, संवाद प्रकाशन, मेरठ-2002
2. सिमोन द बउआर*; स्त्री उपेक्षिता*, अनु. प्रभा खेतान, हिन्द पॉकेट बुक्स-1992
3. खेतान, प्रभा. *बाजार के बीचः बाजार के खिलाफ*, वाणी प्रकाशन-2010
4. पाठक; रवीन्द्र कुमार. *जनसंख्या समस्या के स्त्री पाठ के रास्ते*, राधाकृष्ण प्रकाशन-2010
5. राजकिशोर. *स्त्री के लिए जगह* (संपादित), वाणी प्रकाशन-2002
6. यादव, राजेन्द्र. *आदमी की निगाह में औरत*, राजकमल प्रकाशन-2002
7. जैन, अरविन्द. *औरत होने की सजा*, राजकमल प्रकाशन-1994

वेबसाइट

1. http://news.bbc.co.uk/2/hi/south_asia/5140526.stm
2. http://articles.timesofindia.indiatimes.com/2010-07-21/india/28280971_1_india-s-hiv-hiv-infected-women-workers
3. http://www.janprachar.com/2012/08/blog-post_6938.html